लोग

और उनके सोचने-समझने के तरीके

उमा अय्यर

लोग कैसे सोचते-समझते हैं और उनकी सोच-समझ पर किन बातों का असर पड़ता है – इस मुद्दे पर काफी खोजबीन और अध्ययन किया जा रहा है। ऐसा समझा जा रहा है कि लोगों के सोचने-समझने के तरीके उनके दैनिक जीवन के संदर्भ में विकसित होते हैं।

यह संदर्भ क्या होता है, इसके बारे में ज़रूर विभिन्न मत मिलते हैं। शायद कुछ उदाहरणों पर गौर करने से बात साफ हो।

तरीका अपना-अपना

मध्य प्रदेश में तेंदु पत्ते इकट्ठे करने वाले आदिवासियों में गिनने का अपना ही एक तरीका है। वे पांच तेंदु पत्तों का एक 'पचोर' मानते हैं और पत्तियों को एक, दो, तीन से आठ, नौ, दस तक गिनने की बजाए पचोर के हिसाब से यानी पांच-पांच के समूह में ही गिनती करते हैं।

दूसरा उदाहरण लेते हैं। लाइबीरिया की एक जनजाति है जिसका नाम 'क्पेल' है। एक शोधकर्ता ने क्पेल लोगों को तरह-तरह की चीज़ों का ढेर दिया और कहा कि इनमें किन-किन चीज़ों को एक साथ रखा जाना चाहिए, बताओ। इनमें कुछ खाने का सामान, कुछ कपड़े, कुछ औज़ार और कुछ बर्तन जैसी चीज़ें थीं। हर तरह की लगभग पांच वस्तुएं थीं। जब लोगों से कहा गया कि जो चीज़ें एक साथ रहनी चाहिए उन्हें साथ रख दें; तो उन्होंने पश्चिमी शिक्षा में पढ़े लोगों की तरह खाद्य सामग्री, औज़ार जैसी श्रेणियां न बनाकर अलग ही ढंग से सोचा। उदाहरण के लिए उन्होंने चाकू और मौसंबी को एक साथ रखा क्योंकि चाकू का उपयोग मौसंबी काटने के लिए होता है।

इस तरह के उत्तर सुनकर शोधकर्ता

यह सोचने लगे कि क्पेल लोगों की सोचने-समझने की क्षमता काफी कमज़ोर है। जब क्पेल लोगों से पूछा गया कि उन्होंने इस तरह का वर्गीकरण क्यों किया तो उनका जवाब चौंकाने वाला था। वे बोले, "पढ़ने वाले लोग खाने की सब चीज़ों को साथ रखेंगे, सब औज़ारों को साथ रखेंगे। पर हमने सोचा कि जो चीज़ें एक-दूसरे के साथ काम आती हैं उन्हें साथ रखना चाहिए।"

यह साफ था कि क्पेल लोग पश्चिमी बुद्धिमत्ता के हिसाब से भी चीज़ों का वर्गीकरण कर सकते थे। पर उन्हें चीज़ों को उपयोग के अनुसार वर्गीकृत करने में ज़्यादा सार्थकता नज़र आ रही थी।

यह एक उदाहरण था कि कैसे एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को अपने से कम आंक लेती है जबकि हर संस्कृति अपने संदर्भ के अनुसार सोचने समझने के अपने-अपने तरीके ईज़ाद करती है; और इनका सीधे तौर पर तुलनात्मक मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। आज जब यह समझ में आने लगा है कि बच्चे दुनिया में अपने रोज़ाना के अनुभवों से विज्ञान की एक अच्छी-खासी समृद्ध समझ बना लेते हैं, तब मनोवैज्ञानिक भी रोज़ाना के संदर्भों में काम में लाई जाने वाली सोच-समझ का गहराई से अध्ययन करने लगे हैं।

माना गया है कि बच्चे ऐसे ही संदर्भों से विज्ञान के भी कई विषयों के बारे में सीख लेते हैं।

कुछ सर्वेक्षण: कुछ अध्ययन

बृल (1986) और रू (1993) द्वारा किए गए एक ऐसे ही अध्ययन में बृल ने 'माली' देश के एक गांव की लड़कियों के बारे में बताया कि वहां तीन वर्ष की उम्र से ही माताएं अपनी बेटियों से अनाज साफ कराना, कूटना-पीसना, जैसे काम कराती हैं। हालांकि इन कामों के लिए किसी प्रकार का कोई प्रशिक्षण आदि नहीं दिया जाता, फिर भी पांच साल की उम्र तक ये लड़कियां इन कामों में उतनी ही निपुण हो जाती हैं, जितना कोई वयस्क।

लाइबीरिया के दर्ज़ियों पर लेन (1977) द्वारा किए गए एक अध्ययन में गणित के कुछ और उदाहरण मिलते हैं। यह अध्ययन दिखाता है कि दुकान पर दर्ज़ियों को सैंकड़ों बार अलग-अलग तरह से नाप का इस्तेमाल करना होता है। इस हिसाब-किताब के लिए दर्ज़ी जो गिने-चुने तरीके अपनाते हैं वे सीमित लग सकते हैं; पर उनके चलते यह कभी नहीं होता कि कोई काम कभी एकदम बेसिर-पैर का हो कर रह जाए।

इसकी तुलना में स्कूली गणित-शिक्षा छात्रों को अनेकानेक नियमों,

फॉर्मूलों और संकेतों के इस्तेमाल का अवसर देती है, जिनसे वास्तव में अत्यन्त विषम समस्याओं का हल किया जा सकता है, पर इस शिक्षा को पाने वाले छात्र अक्सर बेसिर-पैर की गलतियां करते पाए जाते हैं।

शालाओं के माहौल में अक्सर ऐसे मवालों को बहुत अलग तरीके से समझा जाता है। उदाहरण के लिए, एक प्रयोग में 3/4 कप पनीर का दो तिहाई (2/3) हिस्सा लेने को कहा गया, तो एक दर्ज़ी ने पूरे पनीर को एक गोले में फैलाकर उसके चार भाग कर दिए। फिर उसमें से एक हिस्सा निकाल दिया। अब बचे तीन हिस्सों में से दो ले लिए। इसी सवाल को स्कूल में बिल्कुल अलग ढंग से पेश किया जाता है – "3/4 का 2/3 क्या होता है?" गणित के हिसाब से देखा जाए तो दोनों सवाल वही हैं।

इसी तरह समस्याओं का हल ढूंढने की क्षमता पर एक अध्ययन किया गया। इसमें भारत में तीन तरह के बच्चों के बीच तुलना की गई – एक तरफ वे बच्चे जो दुकानदारी करते हैं पर स्कूल नहीं जाते, ऐसे बच्चे जो दूकान संभालते हैं और स्कूल भी जाते हैं, और तीसरा समूह उन बच्चों का था जो स्कूल जाते हैं पर दुकान पर कोई मदद नहीं करते।

उनसे गणना के व इबारती सवाल पूछे गए। दोनों ही तरह के सवालों में उन स्कूली बच्चों ने जो दुकानदार नहीं हैं, मौखिक गणना या मनगणित का प्रयोग बहुत कम किया, बनिस्बत उनके जो दुकानदार थे। स्कूली बच्चों ने ऐसी गलतियां भी की, जिनका कारण नहीं समझा जा सका। इससे यह साबित होता है कि दुकानदारी से जुड़े हुए बच्चे हिसाब लगाने में गलती नहीं कर सकते क्योंकि इसका सीधा असर उनके काम पर पड़ता है, जबकि स्कूलों के बच्चे वही हिसाब लगाने में अक्सर भयंकर गलतियां कर देते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिन बच्चों को रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में इस तरह के सवालों से जूझना पड़ता है, वे अपने लिए ज़रूरी गणितीय क्षमता हासिल कर लेते हैं।

रोज़मर्रा की दक्षताएं

लेकिन साथ ही इस बात पर भी गौर करना महत्वपूर्ण है कि इस तरह की दक्षताएं एक स्तर तक और एक कार्य क्षेत्र तक सीमित होकर रह जाती हैं। इसलिए वे सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश जो कि ज्ञान को बनाने व बढ़ाने में मदद करते हैं, वही उस ज्ञान को संकुचित और सीमित भी कर सकते हैं। यूं तो ज्ञान जिस भी स्थिति या अनुभव से मिला हो, वह अन्य स्थितियों में भी काम आता है,

लेकिन शायद यह उनके लिए ज़्यादा संभव हो, जिन्हें स्कूली शिक्षा भी प्राप्त हुई है।

ये सोचने वाली बात है कि रोज़मर्रा की दक्षताओं को जानने की क्या ज़रूरत है, और इनका स्कूल में सिखाई दक्षताओं से क्या संबंध है? क्या इनका बुद्धिमता या सीखने की क्षमता के साथ कोई संबंध है या नहीं?

इसका उत्तर सकारात्मक है। समझना व तर्क करना व्यक्ति के सामाजिक संदर्भ का हिस्सा है, क्योंकि किसी सामाजिक संदर्भ में ही जानने समझने की क्रिया होती है। इन क्षमताओं को समाज से अलग नहीं देखा जा सकता। स्कूल भी समाज का हिस्सा है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि यहां ऐसी दक्षताएं सीखी - सिखाई जा सकती हैं जिनका संदर्भ छात्रों के जीवन में नहीं बना है। दुख की बात ये है कि स्कूली शिक्षा रोज़मर्रा की 'शिक्षा' से संबंध नहीं बना पाती। इसी कारण बच्चों को स्कूल में सीखी चीज़ों को अपनी ज़िन्दगी के संदर्भ में समझने में दिक्कत होती है। लेकिन दूसरी तरफ स्कूल जाने से ही हम बहुत-सी सांकेतिक विधियां सीखते हैं, अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण करने की प्रक्रिया सीखते हैं जिससे अनेकानेक स्थितियों के बीच संबंध समझे जा सकते हैं।

स्कूल कुछ ऐसी दक्षताओं को उभारने में मदद करते हैं जो कि नई परिस्थितियों में हमारे काम आएं।

अध्यापकों को इस मुद्दे पर गंभीरता से सोचना होगा कि बच्चों में जो भरपूर दक्षताएं व सोच-समझ पहले से हैं, उनका प्रयोग पाठ्यक्रम के लिए किस तरह करें। अब सवाल यह है कि दोनों का सही संतुलन या सामंजस्य कैसे बनाया जाए।

शहर के स्कूलों में जो निम्न आर्थिक वर्ग के बच्चे आते हैं वे मज़दूरी भी करते हैं। उसी तरह गांव में बच्चे बड़ों के साथ-साथ रहकर घर के काम करना और खेत पर काम करना सीख जाते हैं।

यदि अध्यापक इन दक्षताओं को पहचान ले, तो उन्हें आधार मानकर और जटिल दक्षताओं को विकसित करने के तरीके बना सकते हैं।

उमा अय्यर: बड़ोदा स्थित एम. एस. यूनिवर्सिटी से पढ़ाई की है।
अनुवाद: **शिवानी बजाज:** एकलव्य के प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में कार्यरत।